

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सर्वधर्म-समभाव-प्रकरण

प्रारब्धा ज्ञानगोष्ठी सा षष्ठस्याथ दिनस्यतु ।
स्वस्तिवाचनपूर्वं च गायत्रीपाठपूर्वकम् ॥ १ ॥
ज्ञानविज्ञानयोः केंद्रमालोकस्य निधिं प्रभुम् ।
ध्यात्वासवितृदेवं च संमिद्धिर्ज्ञानयज्ञजम् ॥ २ ॥
जिज्ञांसवस्तदालोकं ज्वालयामासुरुत्तमम् ।
ओतप्रोता तदालोकैः सृष्टिरेषा समन्ततः ॥ ३ ॥
याज्ञवल्क्यस्य संकेतं सत्राध्यक्षस्य स ऋषिः ।
प्राप्य कौण्डिन्य उत्थाय जिज्ञासां संन्यवेदयत् ॥ ४ ॥
टीका—छठे दिन की ज्ञान गोष्ठी मंगलाचरण पूर्वक
आरंभ हुई। उपस्थित जिज्ञासुओं ने सस्वर गायत्री पाठ और
ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश केंद्र सविता देव का ध्यान करते हुए

ज्ञान यज्ञ में समिधा डालकर आलोक प्रज्ज्वलित किया, जिस
आलोक से यह समस्त सृष्टि ओतप्रोत है। सत्राध्यक्ष याज्ञवल्क्य
जी का संकेत मिलते ही ऋषि कौण्डिन्य खड़े हुए एवं उन्होंने
विनम्रभाव से अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा ॥ १-४ ॥

यहाँ ज्ञानयज्ञ से तात्पर्य सद्ज्ञान से, विवेक के संवर्द्धन से,
महाप्राज्ञ के परिपोषण एवं सदाशयता के अभिवर्द्धन से है।
परब्रह्म परमात्मा की चेतना, प्रेरणा, सक्रियता एवं समर्थता
को ही मनीषियों में गायत्री कहा है। गायत्री छन्दसामहम और
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि कहकर गीता में भगवान ने गायत्री को
अपना स्वरूप बताया है। गायत्री का देवता सविता है।
आध्यात्मिक अर्थ में इसे ब्रह्मांड व्यापी चेतन ऊर्जा के रूप में
माना गया है और कहा गया है सवितावा देवानाम् प्रसविता
अर्थात् सविता ही देवों का प्रसविता है। वे मानों उस चेतन

५.५० प्रज्ञोपनिषद्

सूर्य की रश्मियाँ हैं। देवता प्राणस्वरूप माने गए हैं और उनके अभिवर्द्धन, परिपोषण तथा रक्षण करने वाली शक्ति ही गायत्री है। गायत्री महामंत्र में सूक्ष्म रूप से इन्हीं देव शक्तियों का समावेश है। लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष, जीवन की व्यक्तिगत तथा संपूर्ण विश्व की समष्टिगत समस्याओं का सर्वतोमुखी समाधान गायत्री महामंत्र में सन्निहित है। यही कारण है कि सृष्टि के आरंभ से लेकर अब तक ऋषि-मनीषियों, अवतारी, महामानवों की गायत्री आराध्य रही है। यहाँ भी ऋषियों ने उसी का आश्रय लिया और आगे बढ़े।

कौण्डिन्य उवाच—

देव ! धर्मस्य संबंधि ह्यस्तनं हि विवेचनम् ।
श्रुत्वा मन्थनमस्माभिर्विहितं विषये बहु ॥ ५ ॥
भवतः प्रतिपाद्यानि बुद्धियुक्तानि देव तु ।
असमञ्जसमेकं तु चित्तेऽस्माकमुदेति यत् ॥ ६ ॥
तत्त्वदर्शनरूपाया धर्मस्यास्य धृतेः समान् ।
जानन्तोऽपिमतान् भिन्नानाचरन्त्येषु नो कथम् ॥ ७ ॥
समागमेषु सर्वेषु धार्मिकेषु च पर्वसु ।
जपानुष्ठनयोः स्नानरात्रिजागरणेषु च ॥ ८ ॥
देवस्थानेषु सामान्यजनानां दृश्यते महान् ।
समर्द्धो धर्मचर्चा चाऽसंख्यां शृण्वन्ति ते सदा ॥ ९ ॥
दृश्यते च तथाप्यत्रानैतिकत्वं पदे पदे ।
आक्रामकत्वचौर्यादि विद्वेषा विग्रहास्तथा ॥ १० ॥
धर्मच्छायासु पुण्यासु धर्मनाम्ना कथं पुनः ।
भीषणो नरसंहारः पशुहत्यादिकं तथा ॥ ११ ॥
धर्मस्तु सार्वभौमोऽस्ति कथं तत्ते मतान्तराः ।
कल्पिताश्चनिजाव्याख्या दृश्यन्ते बाह्यडंबराः ॥ १२ ॥
धर्मस्य परिवृत्तौ ते जना धर्मपरायणाः ।
लग्ना व्यग्रतया देव ! दृश्यन्ते किमिदं कथम् ॥ १३ ॥
विसंगते रहोदरिन् कारणं नस्तु बोध्यताम् ।
अस्माद् विपर्ययान्मोक्तुमुपायो बोध्यतां प्रभो ॥ १४ ॥

टीका—कौण्डिन्य बोले हे देव धर्म संबंधी कल का विवेचन सुनने के बाद हम सबने उस विषय पर काफी मंथन किया है। भगवन् आपके द्वारा व्यक्त किए गए सभी प्रतिपादन सर्वथा बुद्धिसंगत दीखते हैं। एक असमंजस हमारे मन में और उठा है कि तत्त्वदर्शन, धर्मधारणा के इन विभिन्न पक्षों को जानते-समझते हुए भी सामान्यजन इस पर आचरण क्यों नहीं कर पाते? धार्मिक समागमों, पर्व-त्यौहारों, अनुष्ठानों, अखंड जप, सामूहिक स्नान, रात्रि जागरण में एवं देवस्थानों पर जन साधारण की अपार भीड़ दृष्टिगोचर होती है। धर्मोपदेशकों के संदेश भी अगणित व्यक्ति सुनते दिखाई देते हैं। फिर भी अनैतिकता, आक्रामकता, विग्रह-विद्वेष, चोरी-लूटमार एवं धर्म की आड़ में परस्पर मारकाट क्यों कर पद-

पद पर दिखाई देती है? सार्वभौम धर्म एक होते हुए भी अनेक मत-मतांतर, प्रत्येक की अपनी-अपनी अलग-अलग मनगढ़ंत विवेचनाएँ एवं बाह्यडंबर क्यों देखे जाते हैं? हे देव धर्म परिवर्तन की विडंबना में धर्म परायण कहे जाने वाले व्यक्ति ही उलझे दिखाई देते हैं, ऐसा क्यों? हे तत्त्वदर्शी इस विसंगति का कारण बताइए और साथ ही इस विपर्यय से बचने-छूटने का उपाय भी बताइए ॥ ५-१४ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच

जिज्ञासा शृङ्खलां श्रुत्वा मोदं याति मनस्तु नः ।
भवता पृच्छता प्रश्नमिमं मानवता समा ॥ १५ ॥
धन्यी कृता नवोत्साहो भविताऽस्य समाहितेः ।
भद्रा आकर्ण्यतामेतद्रहस्यमसमञ्जसम् ॥ १६ ॥
प्राणाः शरीरं हे तात ! मिलित्वा जायते यथा ।
पुरुषस्तथैव धर्मोऽस्ति घटकद्वयनिर्मितः ॥ १७ ॥
बाह्यरूपं तु तस्यैकं यत्पूजास्तवनादिषु ।
दीपनीराजनाख्येषु कर्मकांडेषु दृश्यते ॥ १८ ॥
परमाया हि सत्ताया ध्यानायात्र तु कर्हिचित् ।
प्रतीकानाश्रयन्त्येषा निराकारा यतः स्वतः ॥ १९ ॥
संप्रदायेषु भिन्नेषु देशकालादि कारणात् ।
प्रतीकाः संति भिन्नास्ते लक्ष्यमेकं तथापि तु ॥ २० ॥
समष्टौ व्याप्तया ब्राह्म्या तथा चैतन्यसत्तया ।
एकात्मता प्रतिष्ठा सा तद्गुणाचरणं तथा ॥ २१ ॥
उपासनाविधिभिन्नो रीतयः पर्वणामपि ।
भिन्ना भवन्ति सन्त्येता यतः पद्धतयः परम् ॥ २२ ॥
स्वीकृत्य पद्धतीर्यास्तु लक्ष्यमाप्नुं समेऽपि तम् ।
यतन्ते परमात्मानं सत्प्रवृत्तिसमुच्चयम् ॥ २३ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले, आपकी जिज्ञासा शृङ्खला सुनकर हमारा मन प्रमुदित होता है। आपने यह प्रश्न पूछकर सारी मानवता को धन्य किया है। इसके समाधान से शीघ्र ही नया उत्साह उत्पन्न होगा। हे भद्र जनो इस असमंजस भरे आश्चर्य का रहस्य सुनो। हे तात जिस तरह शरीर और प्राण दोनों मिलकर पूर्ण पुरुष बनते हैं, धर्म भी ऐसे ही दो घटकों से मिलकर बना है। एक उसका बाह्यरूप है, जो पूजा-अर्चा, स्तवन, दीप-आरती इत्यादि कर्मकांड के रूप में देखा जाता है। परमसत्ता का ध्यान करने के लिए कभी-कभी प्रतीकों का आश्रय लिया जाता है, वस्तुतः वह सत्ता स्वतः निराकार है। प्रत्येक समुदाय में इसके भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, चूँकि प्रतीकों में देशकाल आदि कारण होते हैं, पर उन सबका लक्ष्य एक ही होता है समष्टि में संव्याप्त ब्राह्मी चेतना सत्ता से एकात्मता स्थापित करना, उस भगवत्सत्ता के गुणों को अपने जीवन में उतारना। उपासना के विधि-विधान, पर्वों के रीति-रिवाज भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर गहराई से देखा

जाए, तो ये सभी मात्र पद्धतियाँ हैं, जिन्हें अपनाकर सभी एक ही लक्ष्य सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय उस परमसत्ता के निकट पहुँचने का प्रयास करते हैं ॥ १५-२३ ॥

धर्मस्यास्यापरं रूपमान्तरंगं तु विद्यते ।

भावना प्रमुखं कर्मकांडे प्राणास्तु केवलम् ॥ २४ ॥

भावनायाः समावेशादागच्छति विना च ताम् ।

निर्जीवचिह्नमात्रं तन्मनो नोदि च साधनम् ॥ २५ ॥

प्राणिनां समुदायेन समष्ट्या प्रेम सर्वदा ।

अविशेषं नरश्चैषां सेवा, धर्मासवो मताः ॥ २६ ॥

धर्मस्य पूर्णता सेयं सार्थक्यं जीवनस्य च ।

सेवाप्रेममयं कृत्वैवात्मानं संभवत्यपि ॥ २७ ॥

टीका—धर्म का दूसरा अंतरंग रूप भावना प्रधान है। कर्मकांड इत्यादि में प्राण भावना के समावेश से ही आता है। उसके बिना तो वे निर्जीव मात्र चिह्न पूजा मन-बहलाव का साधन बनकर रह जाते हैं। समस्त प्राणि-समुदाय एवं मानव-मात्र से निर्विशेष प्रेम एवं सेवा-साधना को ही धर्म का प्राण मानना चाहिए। धर्म की पूर्णता जीवन की सार्थकता स्वयं को प्रेममय एवं सेवामय बनाने से ही संभव हो पाती है ॥ २४-२७ ॥

यहाँ ऋषि धर्म के अंतरंग पक्ष इष्ट के प्रति भावना और प्रेम की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसके अभाव में पूजा-उपासना के सभी क्रियाकृत्य निर्जीव मात्र चिह्न-पूजा भर रह जाते हैं। मानसकार ने श्रद्धा भावना को भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ। कहकर यह स्पष्ट किया है कि उसके बिना उपासना की सिद्धि या अंतःकरण में स्थित परमात्म देव के दर्शन संभव नहीं हो सकते। कहा जाता है कि भगवान् भाव के भूखे होते हैं। श्रद्धा भावना से पत्र पुष्प भी समर्पित करने पर वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। मनुष्य का अपना अंतःदेवता भी श्रद्धा भावना के वश में है। भावना स्वयं अंतःकरण में इष्ट के प्रति प्रेम का उद्वेक करती है तो ऐसा आभास होता है कि अपनी प्रिय वस्तु अपने बहुत समीप, अपनी कल्पना में ही ओत-प्रोत है।

इष्ट के प्रति समर्पण को ही प्रेम कहते हैं। प्रेमयोग का साधक अपने अंतरंग में भावनात्मक और बहिरंग में क्रियात्मक प्रेममय की दिव्य संवेदनाओं का परिचय देता है। यही धर्मधारणा का प्राण है। भगवान् से प्यार करने का तात्पर्य है उसकी दुनिया के पीड़ित पक्ष की सेवा करना। इसी में जीवन की सार्थकता है।

अनगढ़ चेतना को सुगढ़ और सुसंस्कृत बनाने में धर्म-धारण ही महती भूमिका संपन्न करती है। चेतना का परिशोधन, परिष्कार एवं व्यक्तित्व का निखार धर्मधारणा के सहारे ही संपन्न होता है। पूर्णता प्राप्ति की सहज प्रवृत्ति मानव अंतःकरण

में विद्यमान है पर धर्म धारणा के अभाव में वह ईश्वर सान्निध्य प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाता, क्योंकि नियामक सर्वव्यापी सत्ता निराकार है, अनादि और अनंत है। उस निराकार ब्रह्म से संपर्क स्थापित करने का माध्यम क्या बने? इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धर्म के बाह्य स्वरूप उपासनात्मक कर्मकांड के विधि-विधानों को दैनिक जीवन में नित्य कर्म की तरह अपनाने का निर्धारण किया गया है। उपासना में अपनी श्रद्धा को दृढ़ आधार प्रदान करने के लिए किसी न किसी प्रतीक को चित्र अथवा मूर्ति को एक अनिवार्य माध्यम माना गया है। प्रतीक जीव और ब्रह्म के मिलन में सहायक भूमिका निभाते हैं। हिंदुओं के मंदिर, देवी-देवताओं के चित्र अथवा मूर्ति, गीता आदि, वेदांतियों का सोऽम्, सविता और अग्नि के तेज का ध्यान, तथा ईसाइयों का गिरजा, बाइबिल तथा क्रूस, मुसलमानों का काबा और कुरान, पारसियों का अग्नि का ध्यान, साम्यवादियों का मार्क्स और लेनिन की कब्रों पर पुष्प चढ़ाना, महापुरुषों के चित्रों सद्ग्रंथों के प्रति श्रद्धा का होना आदि सभी उपासना की ही पूर्ति करते हैं।

उपासना वाला परमेश्वर ससीम है। इसे सुपर चेतना तथा परम ज्योति कहा गया है। विभिन्न धर्म संप्रदायों में इसे ही ईश्वर, खुदा, अल्लाह, गाड आदि नाम से संबोधित किया गया है। ससीम परमात्मा को उन सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय समझना चाहिए जो मानवी गरिमा का स्तर ऊँचा रखने की प्रेरणा देती है साथ ही पात्रता के अनुरूप प्रतिफल, अनुग्रह, अनुदान प्रदान करती है। वस्तुतः परब्रह्म अससीम है। निराकार और सर्वव्यापक होने के कारण वह न तो एक देशीय हो सकता है और न सीमित कहा गया है कि उसकी कोई प्रतिमा नहीं न तस्य प्रतिमा अस्ति और न स्वरूप न छवि आप्त वचनों भी कहा गया है एकं सद्ब्रह्म बहुधा वर्दति, एको विश्वस्य भुवनस्य राजा अर्थात् एक ही परब्रह्म को विद्वानों ने अनेक नामों से संबोधित किया है। उसे ही सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय बताते हुए ऋषि यहाँ कहते हैं कि पूजा उपासना से लेकर रीति-रिवाजों तक के क्रियाकृत्य अपनाकर मनुष्य अपने व्यक्तित्व को पवित्र एवं प्रखर बनाने का अभ्यास करता है और आत्म परिष्कार करते हुए ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करता है।

परमात्मप्रेम संयुक्ता जना ये शुद्धचेतसः ।

सृष्टेः कणेषु पश्यन्ति छायां तस्याभितो मुने ॥ २८ ॥

वनस्पतिषु पश्यन्ति चराचरगतं प्रभुम् ।

जीवेषु भिन्नवर्णादियुतेष्वेते नरेष्वपि ॥ २९ ॥

योजना उच्चनीचानां धनिनिर्धनानां तथा ।

लघूनां महतां भेदं विस्मृत्येह तु प्राणिनः ॥ ३० ॥

प्रेमदृष्ट्यैव पश्यन्ति धर्मात्मानस्तु तेऽर्थतः ।

५.५२ प्रज्ञोपनिषद्

परमेशप्रियाः प्रेमाऽसीमाऽनन्तं हि वस्तुतः ॥ ३१ ॥

यदा मनुष्यः सेवायां साधनायां रतः सदा ।

मत्वा पूजां निजं कर्म कुरुतेऽहंकृतिस्ततः ॥ ३२ ॥

नाशमेति स्वयं हेतुरस्ति याऽपूर्णतास्थितेः ।

परमात्मसत्तया चैक्यं पूर्णतामनुयाति च ॥ ३३ ॥

टीका—हे ऋषिश्रेष्ठ परमात्मसत्ता से सच्चे हृदय से प्रीति रखने वाले मुमुक्षुजनों को सृष्टि के प्रत्येक कण में चहुँ ओर उन्हीं की छाया दिखाई देती है। वृक्ष-वनस्पति, जीव-जंतु, विभिन्न वर्ण, वर्ग, जाति व लिंग के नर-समुदाय में उन्हें एक ही चराचर सत्ता के दर्शन होते हैं। जो व्यक्ति धनी-निर्धन, छोटे-बड़े, ऊँच-नीच का भेदभाव भुलाकर प्राणिमात्र को प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण हैं, परमेश्वर को प्यारे हैं। वस्तुतः प्रेम की परिधि असीम है अनंत है। जब मनुष्य सेवा-साधना में निरत हो हर काम को पूजा मानकर करता है, तो उसका अहंकार, जो अपूर्णता का कारण है, स्वयमेव मिटता चला जाता है एवं उसे परमात्म सत्ता से एकत्व की पूर्णता की अनुभूति होने लगती है ॥ ३८-३३ ॥

यहाँ महर्षि प्रेम की असीमत और अनंतता को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः प्रेम को ही परमेश्वर कहा गया है। देवर्षि नारद का कथन है कि सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा। ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ है उसके प्रति, उसकी सरंचना के प्रति समर्पण। सच्चे ईश्वर भक्त की यही पहचान है। उसे सर्वत्र आत्मवत् सर्वभूतेषु की अनुभूति होती रहती है। विश्वात्मा की वसुधैव कुटुंबकम् की सजीव अनुभूति तभी संभव होती है जब मनुष्य मात्र से, प्राणी मात्र से स्नेह सद्भाव का सघन संबंध होता है। सच्चे धर्मपरायण के लिए आत्मीयता मात्र सिद्धांतों तक सीमित नहीं रहती वरन वह सरस संवेदना बनकर अंतःकरण से फूट पड़ती है। सबके कल्याण की भावना जग पड़ती है। ईश्वरीय प्रेम अपने आप में सामर्थ्य का पुंज है और उस प्रेम भावना से ओत प्रोत मनुष्य जब अपने क्षुद्र स्व को लाँघकर दिव्य प्रेम की अनंतता में प्रवेश करता है तब वह परमसत्ता से एकत्व स्थापित कर लेता है। यही अद्वैत अनुभूति धर्म की अध्यात्म की पूर्णता है।

दुर्भाग्यादेष मर्त्यानां समुदायस्तु वर्गशः ।

बाह्ये धर्मस्वरूपे हि दत्तचित्तस्तु तिष्ठति ॥ ३४ ॥

अस्याविडंबनायाश्च मोक्तव्या जनता समा ।

सर्वधर्मसमं भावं कर्तुं तु हृदयंगमम् ॥ ३५ ॥

परेषामनिवार्य तु संस्कृतेरूपदेशकाः ।

धृतिं धर्मस्य स्वीये ते जीवने विदधत्विमाम् ॥ ३६ ॥

प्रमाणैर्ब्रह्मणः सत्तां प्रतिपाद्येश्वरास्थया ।

तस्यास्तैः फलितार्थैश्च विज्ञान् कुर्वन्तु ते जनान् ॥ ३७ ॥

दृढेष्वास्तिक्यमूलेषु धर्मगे संप्रदायगे ।

भेदे ज्ञाते स्वयं भ्रांतेर्नीहारो नाशमेष्यति ॥ ३८ ॥

टीका—दुर्भाग्यवश विभिन्न वर्गों के मनुष्य समुदाय धर्म के बाह्य स्वरूप में उलझकर रह जाता है एवं उसी को सब कुछ मानते हुए पूर्वाग्रहों से ग्रसित हो जाता है। इस विडंबना से जन समुदाय को मुक्ति दिलानी चाहिए। सर्वधर्म समभाव के स्वरूप को हृदयंगम कराने हेतु यह अनिवार्य है कि संस्कृति के उपदेष्टा धर्मधारणा को स्वयं जीवन में उतारें एवं परब्रह्म की सत्ता को विभिन्न प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित कर ईश्वर विश्वास एवं उसके फलितार्थों से सबको परिचित कराएँ। आस्तिकता की जड़ें मजबूत होने पर एवं धर्म-संप्रदाय का अंतर समझ में आ जाने पर भ्रांतियों का कुहासा स्वयमेव मिटता चला जाएगा ॥ ३४-३८ ॥

यहाँ ऋषि उस विडंबना की ओर इंगित करते हैं जिसमें हर धर्म-संप्रदाय के लोग भोलेपन में कर्मकांडों को क्रिया-कृत्यों को ही सब कुछ मान लेते हैं और भावनाओं के परिष्कार को भूल जाते हैं। वस्तुतः भजन पूजन से लेकर तीर्थ यात्रा तक के क्रिया-कृत्यों के पीछे छिपा मूलभूत उद्देश्य एक ही है कि मानवी चिंतन पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों से विरत होकर पवित्रता और प्रखरता अपनाएँ, संयमी और उदारचेता बने, चरित्रनिष्ठ और समाजनिष्ठ बने। पर लोग पूजा पाठ के लोकाचार मात्र से यह समझ बैठते हैं कि भगत भक्ति का प्रयोजन पूरा हो गया। जप, पाठ, कीर्तन, सजदा, अजान आदि के बाह्य कृत्यों से संतोष कर लेते हैं कि देवता की भगवान की प्रसन्नता अर्जित कर ली। मंदिरों में देवदर्शन, नदी सरोवरों में स्नान, ब्रह्मभोज आदि के क्रिया-कृत्यों से अपनी धर्मश्रद्धा पूर्ण कर लेते हैं। यह परख नहीं करते कि हमारी भावनाएँ कितनी गहरी या उथली हैं। धर्म के ठेकेदार भगवान के एजेंट, महंत, कथावाचक, उपदेशकगण भी जो उपदेश देते हैं उसमें भी क्रिया-कृत्यों की ही प्रधानता होती है और इसी के आधार पर मनोकामना से लेकर स्वर्गमुक्ति तक का अनुपम माहात्म्य बताया जाता है। धर्मक्षेत्र की यह सबसे बड़ी विडंबना है। इससे मुक्ति दिलाने और सर्वधर्म समभाव के स्वरूप को जन-जन तक पहुँचाने के लिए ऋषि का यहाँ कथन है कि धर्माचार्य उपदेष्टा स्वयं धर्म को धारण करे और जीवन में उतारे। प्रत्यक्ष आचरण द्वारा ही किसी को सिखाया जा सकता है। आस्तिकता का पक्षधर बनने पर ईश्वर का अडिग विश्वास होने पर ही धर्म और संप्रदाय का वास्तविक स्वरूप समझ में आता है और तब विग्रह की कहीं कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

कृतं निष्कामभावेन कर्म धर्मोऽस्ति वस्तुतः ।

स्वार्थहेतुकृतं कर्म भौतिकाध्यात्मबाधकम् ॥ ३९ ॥

स्वतः सिध्यति स्वार्थस्तु सेवते प्राणिनो नरः ।
यहिं मत्वा निजं धर्मं परमार्थं रतो भवेत् ॥ ४० ॥
विक्रये गोरसस्यात्र हरेर्मिलनमुत्तमम् ।
एकस्मिन् पथि लाभोऽयं कर्मणोऽस्तु द्वयोरपि ॥ ४१ ॥
साधनायां च सेवायां नियुक्ता व्यक्तयस्तु याः ।
लभन्ते सहयोगं ताः सम्मानमनुदानकम् ॥ ४२ ॥
अतोऽस्माभिरिदं बोध्यं परमार्थो हि वस्तुतः ।
स्वार्थो यतः समष्टौ तु व्यष्टिराविशति स्वयम् ॥ ४३ ॥

टीका—वस्तुतः निष्काम भाव से किया गया कर्म ही धर्म है। जो कार्य अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु किया जा रहा हो, वह मनुष्य की भौतिक एवं आत्मिक दोनों ही प्रगति में बाधक बनता है। स्वार्थ तो स्वतः ही सधने लगता है, जब मनुष्य प्राणिमात्र की सेवा को अपना धर्म मानकर परमार्थ में जुट जाता है, यह तो गोरस बेचन हरि मिलन एक पंथ दो काज की तरह लाभ ही लाभ है। सेवा-साधना में नियोजित व्यक्ति स्वतः जन सम्मान, सहयोग एवं भौतिक अनुदान पाता रहता है। वस्तुतः परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ है, चूँकि समष्टि में व्यक्ति (व्यष्टि) स्वतः ही आ जाता है ॥ ३९-४३ ॥

यहाँ महर्षि ने उच्चस्तरीय स्वार्थ को ही परमार्थ बताया है। स्वार्थ और परमार्थ में संघर्ष तब होता है जब वे प्रथक रहते, भिन्न दिशा अपनाते, विवादों में फँसते और परस्पर टकराते हैं। परंतु जब कर्म निष्काम भाव से किया जाता है तब स्वार्थ और परमार्थ दोनों में पति-पत्नी की तरह, आग ईंधन की तरह पूर्ण एकात्मता रहती है एवं उनकी सम्मिलित प्रक्रिया ऐसी होती है जिससे लौकिक संपदाओं और आत्मिक विभूतियों की उपलब्धि साथ-साथ होती चलती है। परमार्थ का तात्पर्य है सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन, सदाशयता का प्रचलन, पीड़ा और पतन का उन्मूलन। परमार्थ अपने आप में एक उच्चस्तरीय तप है जिसके साथ सूर्य की सप्तवर्णी किरणों की तरह उत्कृष्टता, आदर्शवादिता, श्रमशीलता, जागरुकता, मितव्ययता, सुसंस्कारिता, मर्यादा के सात सद्गुणों की शृंखला साथ रहती है। जिन्हें अपनाकर कोई भी अपनी क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थपरता से विरत होकर महामानव बन सकता है।

परमार्थ परायणता की पृष्ठभूमि में सज्जनता की चरित्रनिष्ठा अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहती है। परमार्थ करते-करते बाटन हारे के लगे ज्यों मेंहदी को रंग की तरह स्वार्थ स्वयमेव निभ जाता है। इस रहस्य को जानने वाले कभी घाटे में नहीं रहे। इतिहास साक्षी है कि स्वार्थ परायणों ने जो कमाया, उसकी तुलना में परमार्थ-परायणों का उपार्जन हर दृष्टि से हजारों-लाखों गुना अधिक रहा। सम्मान, सहयोग से लेकर दैवी अनुग्रह तक उनके पीछे छाया की तरह लगी रहती है।

धर्मो वक्तव्य एषोऽत्र कार्यशैली करोति या ।
जीवनं मानवानां तु सफलं सार्थकं तथा ॥ ४४ ॥
व्यक्तित्वस्य च सर्वांगपरिष्कारविधायिका ।
अस्या विवेकशीलैस्तत्कर्तव्यमनुशासनम् ॥ ४५ ॥
बाह्यं रूपं सदाचारो धर्मस्यास्ति यथा तथा ।
रूपमांतरिकं तस्य सद्भावो विद्यते ध्रुवम् ॥ ४६ ॥
धर्मबाह्यप्रवृत्तीर्या व्यक्तिः सेवां श्रमादिकम् ।
आदायाथ च धर्मस्य रूपमांतरिकं पुनः ॥ ४७ ॥
शालीनतां च सौजन्यं सारल्यं शांतजीवनम् ।
संवेद्यतां तथौदार्यं दयां मैत्रीं तथैव च ॥ ४८ ॥
जीवनं यापयन्तस्तु शान्तिं संतोषमुत्तमम् ।
अनुभवन्ति तु ये संति ते वै धर्मपरायणाः ॥ ४९ ॥

टीका—धर्म को, मानव जीवन को सफल, सार्थक बनाने एवं व्यक्तित्व का सर्वांगपूर्ण परिष्कार कर दिखाने वाली एक कार्यशैली कहा जाना चाहिए। हर विवेकशील व्यक्ति को इसका अनुपालन करना चाहिए। धर्म का बाह्य स्वरूप जहाँ सदाचार है, वहाँ सद्भाव उसका आंतरिक स्वरूप है। जो व्यक्ति श्रम-सेवा आदि धर्म की बहिरंग प्रवृत्तियों एवं सज्जनता, शालीनता, सरलता, सादगी, संवेदनशीलता, उदारता, करुणा, मैत्री जैसी अन्तरंग सत्प्रवृत्तियों को अपनाकर जीवनक्रम चलाते हुए दैनन्दिन जीवन में शान्ति एवं संतोष की अनुभूति करता है, वही सच्चे अर्थों में धर्मपरायण है ॥ ४४-४९ ॥

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि धर्म एक महान् तथ्य और जीवन चेतना का यथार्थ विज्ञान है जिसके बाह्याभ्यंतर दोनों ही स्वरूप व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी हैं। आचरण की श्रेष्ठता, विचारों की उत्कृष्टता तथा भावनाओं की पवित्रता ही धर्म का व्यावहारिक लक्ष्य है, जिसका परिपालन समस्त मानव समुदाय को करना चाहिए। शालीनता और नीतिमत्ता को धर्म की धुरी माना गया है। जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं जो इसकी परिधि में न आता हो। धर्म का वास्तविक तात्पर्य ही है मानवी चेतना में ऐसी सत्प्रवृत्तियों का समावेश जो सदाचरण, सद्भावना और कर्तव्यपालन के रूप में वातावरण को उल्लासपूर्ण बनाने में समर्थ हो सकें। सहिष्णुता, विनम्रता, मैत्री, दया, करुणा, उदारता, प्रेम, विवेक, संयम, सेवा जैसे सद्गुणों में सच्ची धर्मनिष्ठा का परिचय मिलता है। धर्म को धारण करने वाले अपने जीवन में आचरण करने वाले, धर्म के आधार पर अपने जीवन को जीने वाले, कर्तव्य परायणता को प्रमुखता देने वाले व्यक्ति ही सही अर्थों में धर्मात्मा, धार्मिक, धर्मपरायण कहे जाते हैं। धर्म का पालन और पोषण करने वाले मनुष्य के जीवन में एक विशेष प्रकार का विलक्षण आह्लाद भरा रहता है, वह सर्वत्र सौरभ बिखेरता चलता है और वातावरण को उल्लास और उमंग से भर देता

५.५४ प्रज्ञोपनिषद्

है। निर्जीव को भी सजीव बना देने की सामर्थ्य धार्मिक प्राणवत्ता से ही आती है।

तात मानवधर्मे ये त्वास्थावन्तो नरा न ते।
मान्यतासु स्वकीयासु कुर्वते हि दुराग्रहम् ॥ ५० ॥
सत्यान्वेषणयुक्तास्तु कर्मयोगिन एव च।
जिज्ञासुस्तरका नूनं साधकाः संति ते ध्रुवम् ॥ ५१ ॥
एतादृशं हि सद्भावं स्वांतःकरण उत्तमम्।
विकासयन्ति ते विश्वे वैविध्यभरिते स्थिताः ॥ ५२ ॥
मान्यता या विभिन्नानां वर्गाणां वा परंपराः।
मानयंस्ताः समान् बंधून् मन्यन्ते सहयोगिनः ॥ ५३ ॥
तर्कतथ्यप्रमाणानां भाषायां ब्रह्मवर्णनम्।
कृत्वा कुर्वन्ति चाश्वस्तानन्या-नास्तिकपक्षगान् ॥ ५४ ॥
एतादृशा उदारा ये धार्मिकाः संति ते ऽर्थतः।
अध्यात्मवादिनो धर्मरता धर्मोपदेशकाः ॥ ५५ ॥
विपरीतानि येषां तु नृणामाचरणानि वै।
तात्कालिकं परं लाभं प्राप्नुयुस्ते तु चान्ततः ॥ ५६ ॥
तेषां यथार्थता ऽऽयाति समेषां सम्मुखे ततः।
भर्त्सना पात्रतां यान्ति कोपभाजनतां प्रभोः ॥ ५७ ॥

टीका— हे तात मानवधर्म में आस्था रखने वाले कभी अपनी मान्यता के प्रति दुराग्रही नहीं होते। वे सत्यान्वेषी, कर्मयोगी एवं जिज्ञासुस्तर के साधक होते हैं। वे इस स्तर की सदाशयता अपने अंतःकरण में विकसित करते हैं कि विविधता से भरी इस सृष्टि में विभिन्न वर्गों की मान्यताओं-परंपराओं का सम्मान भले ही पा लें, अंततः उनकी यथार्थता सबके सम्मुख आ ही जाती है। वे भर्त्सना के पात्र एवं ईश्वरीय सत्ता के कोप भाजन बनते हैं ॥ ५०-५७ ॥

मानवधर्म आत्मा की एकता, समता, शुचिता, शालीनता और उदार सहकारिता की आस्था पर आधारित है। उसमें विग्रह-विद्वेष की कहीं कोई गुंजाइश नहीं। अड़चन तब पैदा होती है, जब विभिन्न धर्म संप्रदायों के बीच पाई जाने वाली भिन्नताओं तथा प्रथा परंपराओं को ही लोग सब कुछ मानकर दुराग्रहपूर्वक यह कहते सुनते पाए जाते हैं कि हमारी मान्यताएँ एवं प्रथा परंपराएँ ही सही हैं। इसके अतिरिक्त सब झूठे हैं। अपनी धर्मपुस्तकों में जो कहा गया है वही ईश्वर का वचन है और जिसकी मान्यता इससे भिन्न है उसे इस धरती पर रहने का कोई हक नहीं है। यह मान्यता ही विग्रह-विद्वेष का कारण बनती है। विवेकवान उदारचेता धर्मपरायण इससे बचते और आन्यायों को भी इसका पक्षधर बनाते हैं कि ईश्वर और धर्म एक हैं। धर्म की मूल आत्मा, न्याय, कर्तव्य एवं औचित्य का समर्थन करती है। सांप्रदायिक प्रथा परंपराएँ, विभिन्न वर्गों के दर्शन, तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र की भिन्नताएँ ऐसी ही हैं जैसा कि एक उद्यान में उगे हुए विभिन्न रंग और गंधों की

पुष्पों की भिन्नता। उसके कारण बगीचे की शोभा ही बढ़ती है, घटती नहीं। विभिन्न रंग के विशेषताओं वाले पुष्प एक दूसरे के शत्रु नहीं होते वरन आपस में गले लिपटते और सुगंध एवं सौंदर्य बिखेरते हैं। विभिन्न प्रकार की पोशाकें पहनने वाले एक रेलगाड़ी में सफर कर सकते हैं तो मजहबों की भिन्नता रहते भी कोई कारण नहीं कि सदाशयता की एकता समता की उपेक्षा की जाए।

यहाँ ऋषि स्पष्ट करते हैं कि मानवी गरिमा के अनुरूप श्रेष्ठ आचरण करने वाले ही सच्चे धर्मात्मा कहलाते हैं। किंतु समय विचित्र है, इसमें भीतर और बाहर के स्तर में भारी अंतर दिखाई पड़ता है। धर्मोपदेशकों का जीवन सार्वजनिक लोकसेवी का जीवन है। किंतु देशभक्ति के नारे लगाने वाले, धर्म के नाम पर लोक सेवा का आवरण पहनने वाले जब कपटमुनि के रूप में छद्म ओढ़े विपरीत आचरण करते और जनता का शोषण करते हैं, तो आश्चर्य होता है। ऐसे लोगों की वास्तविकता का जब पर्दाफाश होता है तो सर्वत्र उनकी भर्त्सना होती है। इस विसंगति से धर्मोपदेशक को बचा जाना चाहिए और बाहर तथा भीतर का स्तर एक रखना चाहिए।

कौण्डिन्य उवाच—

धर्माः कतिविधा मुख्या संति विश्वेऽधुना तु ते।

ब्रूहि तेषां स्वरूपं नः प्रभो मानवमंगलम् ॥ ५८ ॥

टीका—कौण्डिन्य बोले, हे देव इन दिनों संसार भर में प्रमुख धर्म कितने हैं? उनके स्वरूप बताएँ जो मनुष्य के लिए मंगलकारी हैं ॥ ५८ ॥

याज्ञवल्क्य उवाच—

मनीषिणोऽधुनालोके भाषा बह्व्यः समुद्गताः।

असंख्याः संप्रदायाश्च प्रादुर्भूताः पदे पदे ॥ ५९ ॥

विभिन्नानां मतानां च बाहुल्ये विद्यतेऽधुना।

संख्या येषां समुल्लंघ्य सहस्रमति वद्धते ॥ ६० ॥

अधुनोदयन्ति ते नित्यमुद्भिजा इव वार्षिकाः।

देवीनामथ देवानां संख्याऽप्येवं विवर्द्धते ॥ ६१ ॥

गणना संभवा तेषां नैव नावश्यकं तथा।

संक्षेपादद्य चत्वारः संप्रदायास्तु धर्मजाः ॥ ६२ ॥

अन्ये शाखा प्रशाखाश्च तेषामेवेति मन्यताम्।

एषु भारतमूलौ द्वौ मानवोत्कर्षसाधकौ ॥ ६३ ॥

हिंदूधर्म इति ख्यात एकस्तत्राऽपरस्तु सः।

प्रसिद्धो विश्वमात्रे च बौद्धधर्माभिधानकः ॥ ६४ ॥

पाश्चात्यमूलौ द्वौ ख्रीष्ट-इस्लामश्च मताविह।

चतुर्णामेव चैतेषां सदस्या विश्वविस्तृताः ॥ ६५ ॥

धर्मस्य संप्रदायानां समेषां मूल आहिता।

सिद्धांतानां समानैव प्रायः सा हि प्रधानता ॥ ६६ ॥

सनातनं धर्मतत्त्वं तेषु सम्यङ्निरूपितम्।

तेषु कुत्रापि नास्त्येव भिन्नता कापि वस्तुतः ॥ ६७ ॥
तात ! सूर्येण चंद्रेण पवनेनर्तुभिस्तथा ।
नदीभिश्च सरोभिस्तैः संबन्धोऽस्ति नृणां यथा ॥ ६८ ॥
अधिकारोऽपि तेष्वस्ति समानस्तर्हि सा कथम् ।

भिन्नता धर्मतत्त्वे स्याद्यत्तु सर्वोपकारम् ॥ ६९ ॥

टीका—याज्ञवल्क्य बोले हे मनीषियो यों इन दिनों संसार भर में भाषाएँ अनेकों उभरी हैं और संप्रदाय भी सर्वत्र अगणित उपज पड़े हैं। मत-मतांतरों की भरमार है और वे सहस्रों की संख्या में पहुँच चुके हैं। अभी वे बरसाती उद्भिजों की तरह आए दिन उगते रहते हैं। देवी-देवताओं की संख्या भी इसी प्रकार बढ़ रही है। उनकी गणना संभव नहीं, न ही आवश्यक है। संक्षेप में इन दिनों चार धर्म-संप्रदाय प्रमुख हैं। अन्यान्यों को उन्हीं की शाखा-प्रशाखा समझना चाहिए। इनमें भारत मूल के दो हैं, जो मानव के आत्मोत्कर्ष में सहायक हैं। एक हिंदू धर्म, दूसरा बौद्धधर्म। पाश्चात्यमूल के दो हैं, ख्रीष्ट और इस्लाम। इन चारों ही धर्मों के व्यक्ति विश्व भर में फैले हुए हैं। सभी धर्म-संप्रदायों के मूल में एक जैसे ही सिद्धांतों की प्रधानता है। उनमें सनातन धर्मतत्त्व का ही निरूपण किया गया है। उनमें कहीं कोई भिन्नता नहीं। हे तात जब सूर्य, चंद्र, पवन, ऋतु, नदी, सरोवरों से सबका संबंध और अधिकार है, तो फिर धर्मतत्त्व में ही भिन्नता क्यों होगी? जो कि सर्वोपकारक सिद्धांत है ॥ ५९-६९ ॥

अनादिकाल से एक ब्रह्माजी के ही सब पुत्र थे जो मनुष्य कहलाए। तब मनुष्य की एक भाषा, एक संस्कृति, एक जाति और एक ही धर्म था। सभ्यता के विकास के साथ देश, काल और परिस्थितियों को देखते हुए मनीषी, अवतारी, महामानवों में श्रेष्ठता संवर्द्धन एवं निकृष्टता निवारण के लिए जो सिद्धांत एवं आचार शास्त्र निर्मित किए, कालांतर में वे ही धर्म-संप्रदाय के नाम से जाने पहचाने लगे। देश, धर्म, भाषा और संस्कृत तब एकता के पक्षधर थे। कालांतर में दुर्भाग्य वश निहित स्वार्थों ने इन चारों को विभाजन की दीवार बना दिया। आज विश्व में २०९६ भाषाएँ प्रचलित हैं। अनेक प्रकार की बोलियाँ ही बोली जाती हैं। अकेले भारत में ६०० प्रकार की भाषाएँ पाई जाती हैं। विश्व में प्रचलित धर्म-संप्रदायों की संख्या भी प्रायः ६०० है। संसार के प्रसिद्ध ग्यारह धर्म-मत प्रमुख हैं जापान का शिंतोमत, चीन का ताओ और कन्फ्युशियस मत, यहूदी, ईसाई, मुस्लिम मत, हिंदुस्तान का वैदिक मत, जैन मत, बौद्धमत, सिक्खमत, पारसी मत। इन सभी धर्मों की अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ हैं। अकेले हिंदू धर्म के अंतर्गत ३८०० से अधिक संप्रदाय-उपसंप्रदाय हैं। यह वस्तुतः एक ही धर्म संदेश को विभिन्न रूपों में समझाने का प्रयास है। बाह्य कलेवर में विविधता होते हुए भी मौलिक

सिद्धांत सभी धर्म संप्रदायों में एक ही समान है। सभी ने एक सार्वभौम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करना मानव का अंतिम लक्ष्य माना है। सभी में एक स्वर से दुख से त्राण पाने का उपाय और सुख प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। सर्वभूत हितेरता: तथा आत्मवत् सर्वभूतेषु का सनातन सिद्धांत ही सभी धर्म-संप्रदायों का मूलभूत आधार है। अवांछनीयताओं, अनाचार, असुरता को निरस्त करना और देवत्व का अभिवर्द्धन ही सनातन धर्म का वास्तविक उद्देश्य है। वसुधैव कुटुंबकम् की भावना का परिपोषण करने वाली सार्वभौम सार्वजनीय तथा सर्वोपयोगी सनातन शिक्षा का ही सबमें समावेश है। इन्हीं सूत्रों को विश्व धर्म की आधारशिला मानकर आज मानव जाति को एकता के सूत्र में बाँधे जाने की आवश्यकता है।

यदा यदा हि हे तात ! वसुधावासिनो नराः ।

धर्मस्य शाश्वतं रूपमिमं मत्वा दधुः स्वयम् ॥ ७० ॥

तदाऽभूच्च पृथिव्यां सा कृतवातावृतिः शुभा ।

अनास्थोदेति धर्मस्य विकृता मान्यताग्रहैः ॥ ७१ ॥

विवेकशीलतादूरदर्शिताया अभावतः ।

नियामक्याश्च सत्ताया अनुशासनहेलया ॥ ७२ ॥

धर्मस्य धारणयास्तु फलितार्थो महत्त्वगः ।

मानवे देवतात्वस्य धरण्यां स्वर्गसुस्पृशाम् ॥ ७३ ॥

स्थितीनामवतारे च द्रष्टुं शक्योऽञ्जसा नरैः ।

विकटास्वद्य जातासु परिस्थितिषु हे मुने ॥ ७४ ॥

धर्मस्य सार्वभौमं तद्यथार्थं च चिरंतनम् ।

रूपं स्थापयितुं नूनमिदमावश्यकं मतम् ॥ ७५ ॥

धर्मे वृद्धिगते तस्य समीपे संस्थिता बलात् ।

अयोग्यताऽऽवृतिर्भग्ना स्यादेव स्वयमेव सा ॥ ७६ ॥

टीका—हे तात जब-जब इस विश्व वसुधा पर रहने वाले धर्म के इस शाश्वत स्वरूप को मानकर उसे धारण करते रहे हैं, इस पृथ्वी पर सतयुगी वातावरण रहा है। अनास्था तो धर्म के विकृत स्वरूप, मान्यताओं के प्रति दुराग्रह, दूरदर्शी विवेकशीलता का अभाव एवं नियामक सत्ता के अनुशासन की अवज्ञा से ही पनपती है। धर्म-धारणा का महत्वपूर्ण फलितार्थ मानव में देवत्व एवं धरती पर स्वर्ग जैसी परिस्थितियों के अवतरण के रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आज की विकट परिस्थितियों में धर्म के इस यथार्थ, चिरन्तर एवं सार्वभौम रूप को प्रतिष्ठित करने की ही सबसे बड़ी आवश्यकता है। धर्म बढ़ेगा तो उसके इर्द-गिर्द लिपटा अनुपयुक्तताओं का आवरण टूटेगा ही ॥ ७०-७६ ॥

धर्म के सार्वभौम स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठापित किए जाने की आवश्यकता पर बल देते हुए ऋषि याज्ञवल्क्य यहाँ कहते हैं कि धर्म की अभिवृद्धि होने पर ही धर्म का अनुपयुक्तता का निवारण संभव हो सकेगा।

५.५६ प्रज्ञोपनिषद्

समता, एकता, सहिष्णुता, उदारता, सहृदयता, सार्वभौम धर्म की शाश्वत विशेषताएँ हैं, जो हर काल में एक समान रहती हैं। जब तक इनका परिपालन-धर्माचरण का अनुसरण यहाँ होता रहा है तब तक श्रुति के कथनानुसार ध्रुवाँ भूमि पृथ्वी धर्मणाधृताम् अर्थात् यह ध्रुवभूमि, यह पृथ्वी धर्म द्वारा धारण की गई है, यह सत्य साबित होता रहा है और यह पृथ्वी प्रत्यक्ष स्वर्ग की उपस्थिति का एहसास कराती रही, किंतु इससे विमुख होकर मनुष्य ने न केवल अनास्था का वातावरण विनिर्मित किया वरन स्वयं को असुर तुल्य बना लिया और पृथ्वी पर भी भार बन बैठा। यह भार धर्म की अभिवृद्धि होने पर ही कम हो सकता है। सार्वभौम धर्म के अवलंबन की आज महती आवश्यकता है वही मनुष्य को सुख प्रदान कर सकता है।

धर्मो ब्रह्मण उक्तं वै स्वरूपं सक्रियं बुधैः ।
धर्मज्ञो यः स एवोक्तो ब्रह्मज्ञो वेदपारगैः ॥ ७७ ॥
ऋषयस्तु महात्मानो धर्ममर्माधिगत्य ते ।
धर्मानुचरणादापुर्ब्राह्मं पदमिहैव ते ॥ ७८ ॥
जीवन्मुक्तस्थितावेते स्वयं तरितुमाप्नुवन् ।
अन्यास्तारयितुं शक्तिं धर्मस्याचरणादिह ॥ ७९ ॥
एतादृशा यतेयुश्चेद्व्यात्मानोऽधुनाऽपि तु ।
एकां संस्कृतिमत्रैकधर्मं स्थापयितुं पुनः ॥ ८० ॥
भवितैवाऽचिरान्नूनं युगस्य परिवर्तनम् ।
संपूर्णां वसुधामेककुटुंबे प्रेमपूरिते ॥ ८१ ॥

टीका—धर्म को ब्रह्म का सक्रिय स्वरूप कहा गया है। जो धर्म विद् है, वही ब्रह्मविद् है ऐसा वेदवेत्ताओं का मत है। सभी ऋषिगणों, महामानवों ने धर्म के मर्म को धारण कर, उस पर आचरण करके इस जीवन में ही ब्राह्मी पद प्राप्त किया है। जीवन्मुक्त स्थिति में वे स्वयं तरने एवं दूसरों को तारने की सामर्थ्य धर्माचरण से ही प्राप्त कर सके हैं। ऐसी ही ऋषि आत्माएँ एक संस्कृति एवं एक ही धर्म की स्थापना हेतु पुनः प्रयासरत हों, तो युग परिवर्तन अवश्यमेव होकर रहेगा ॥ ७७-८१ ॥

विराट परब्रह्म निराकार है, उसका सक्रिय स्वरूप धर्म के रूप में धर्मपरायणों के जीवन में देखा जाता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं सुगां ऋतुस्य पंथाः अर्थात् धर्म का मार्ग धारण करने योग्य है, यह सुखमय है। इसी को अपनाने से-आचरण में लाने से संसार में महामानवों ने वह सामर्थ्य क्षमता अर्जित की थी जिसके सहारे वे जीवन संग्राम में कर्म का गांडीव उठा सके, स्वयं तरे एवं असंख्यों को अपनी नाव पर बिठाकर भवसागर से पार लगाया। समय की माँग है कि धर्म मात्र पूजा उपचार या प्रचलनों तक सीमित न रहकर न केवल व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता, प्रखरता का संवर्द्धन करे, वरन

चिंतन के हर क्षेत्र पर अपनी छाप छोड़े उसे अवांछनीयता से विरत करके सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने के लिए मोड़े-मरोड़े। यह अनिवार्य हो गया है कि धार्मिकता आज न केवल बिखराव को निरस्त करे, वरन धर्म के सार्वभौम स्वरूप को भी प्रतिष्ठित करे। इसके लिए मूर्खान्यों को आगे आना होगा। मानवी गरिमा को अक्षुण्ण और प्रखर बनाए रखने में युग मनीषा ही पावस की भूमिका निभाती है। उसे ही सर्व धर्म समभाव के लिए कुछ ऐसा ही सोचना तथा बौद्धिक एवं रचनात्मक ढाँचा खड़ा करना है जो युग परिवर्तन जैसे महान प्रयोजन की पूर्ति भली प्रकार कर सकने में समर्थ हो सके।

ग्रथितुं तात ! धर्मं च सार्वभौमं तु वर्गशः ।
विभक्तेभ्यः प्रदातुं त ऋष्यात्मानोऽभवन्निह ॥ ८२ ॥
धरण्यां सक्रियाः शांताश्चिन्तनैकरतास्तु ये ।
भवन्तः संतु चाश्वस्ता देवसंस्कृतिपक्षगाः ॥ ८३ ॥
नवसर्गस्य स्वप्नं तं साकारं कर्तुमुद्यताः ।
स्रष्टु रेवेच्छया तस्यां यतते दिशि प्रत्यहम् ॥ ८४ ॥
सन्देशोऽयं तु सर्वेभ्यो दत्त्वा कार्याश्च ते पुनः ।
अभावाज्ञानसंग्रस्ताः संतोषामृततृप्तिगाः ॥ ८५ ॥

टीका—हे तात सारी वसुधा को एक परिवार के रूप में गूँथने एवं सार्वभौम धर्म की विभिन्न संप्रदायों, समुदाय वर्गों को जानकारी कराने हेतु शांत एवं निरंतर चिंतन में संलग्न ऋषि आत्माएँ धरती पर सक्रिय हो चुकी हैं। आप सब आश्वस्त हों कि देव संस्कृति के पक्षधर नवसृजन का स्वप्न साकार करने हेतु स्रष्टा की इच्छानुसार वे उस दिशा में प्रतिदिन प्रयत्नशील हैं। आप सब यह संदेश जन-जन तक पहुँचाकर अभाव-अज्ञान से ग्रसित जनसमुदाय को संतोषरूपी अमृत से तृप्त करावें ॥ ८२-८५ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य यहाँ सभी को आश्वस्त करते हुए स्पष्ट करते हैं कि युगपरिवर्तन की दिशा में संसार को सार्वभौम धर्म के एक सूत्र में बाँधने के लिए ऋषि आत्माओं ने धरती पर सक्रिय होकर विचार परिवर्तन के प्रचंड प्रवाह के रूप में अपने कार्य को द्रुतगामी बना दिया है। युग परिवर्तन एक अवश्यंभावी प्रक्रिया है जो होकर रहेगा तथा एकता, समता तथा शुचिता के वातावरण से यह धरती फिर से स्वर्गोपम बनेगी।

जिज्ञासा शांतिरेतै सा चोपयोगतया मता ।
व्यवहारयुता चापि तत्त्वज्ञानयुतं समे ॥ ८६ ॥
समागमेन सर्वेऽद्य जना रोमाञ्चिता भृशम् ।
व्यवहारानुकूलस्य तस्यैवाध्यात्मनः समे ॥ ८७ ॥
व्याख्याया अनुरूपं तु धर्मस्येदं सनातनम् ।
रूपं पुष्टप्रमाणं तु व्याख्यातं हृदयंगमम् ॥ ८८ ॥
विधायज्ञानसत्रे च निजायास्तु उपस्थितेः ।

प्रज्ञोपनिषद् ५.५७

कारणात् सार्थकं सर्वं जीवनं मेनिरे समे ॥ ८९ ॥

संध्यावन्दनकालः स समुपस्थित इत्यतः ।

सत्राध्यक्षं प्रणम्येमे सस्नेहं प्रतिनिर्वृताः ॥ ९० ॥

टीका—जिज्ञासा के निराकरण को सभी ने बहुत उपयुक्त एवं व्यावहारिक माना । आज के समागम से सभी रोमांचित थे । व्यवहारिक अध्यात्मवाद की व्याख्या के अंतर्गत धर्म के

सनातन रूप की सप्रमाण विवेचना को हृदयगंम कर सभी ज्ञान सत्र में अपनी उपस्थिति से जीवन सार्थक मानने लगे । संध्यावन्दन का समय हो चुका था । अतः सभी सत्राध्यक्ष को अभिवादन कर परस्पर स्नेह-भाव से मिलते हुए विदा हुए ॥ ८६-९० ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युग दर्शन युग साधना प्रकटीकरणयोः

महर्षि याज्ञवल्क्य प्रतिपादिते सर्वधर्म समभाव इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥